कवि का परिचय

"इस विषम राजनीतिक संकट और संक्रान्ति-काल में 'सरोज' ने अपनी 'कला' द्वारा देश और जाति की जो सेवा की है 'प्रताप' उसका प्रबल साक्षी रहेगा।"

—'प्रताप' कानपूर

'कविता में सरलता और सजीवता 'सरोज' की विशेषता है। हिन्दी-साहित्य के भावी उच्च प्रासाद के उन्नत झरोखे से मैं उनके तीखे दृष्टि कोण को देखने के लिये उत्सुक हूँ।"

—सुकवि बालकृष्ण राव
(भू० पू० प्रेस-सलाहकार,
यू० पी० सरकार)

"नवयुवक कवि 'सरोज' की सरल और सजीव रचनाओं में एक नवीनता के दर्शन होते हैं। मुझे पूर्णाशा है कि शीघ्र ही वे साहित्य में अपना निराला स्थान सुरक्षित कर लेंगे।"

—राष्ट्र कवि मोहनलाल द्विवेदी

सरोज' की रचनाओं में सजीवता सरलता और सवेदन शीलता का पुट विशेष रहता है। उनकी वाणी की व्यापकता और प्रवाहमयी छन्द योजना सहृदयों के तीर सी लगता है।"

—विद्वद्वर प० रूपनारायण पाण्डेय
(माधुरी-सम्पादक)

'सुकवि 'सरोज' में अपनी शुद्ध नवीनता अपनी शैली और अपना निरालापन है। २० वी सदी का विकासोन्मुख युग उनकी ओजस्वी रचनाओं की पंक्ति-पंक्ति में झाँकता हुआ दीख पड़ता है।"

—सुकवि गोपालसिंह नैपाली
फिल्मिस्तान मलाड बाम्बे।

'देश और जाति के प्रति सच्चे सवेदन शील और वफादार कला कारों में सुकवि 'सरोज' का अपना एक स्थान है।"

—कविवर पं० पद्मकान्त मालवीय

वर्द्धमान साहित्य मंदिर का प्रथम पु०

रोली

(कविता संग्रह)



रचयिता

श्री शिवसिंह 'सरोज'

प्रथम वार
सन १९४२ ई० }

सं० २००१ वि०

{ अजिल्द १॥)
{ सजिल्द २)

प्रकाशक—
श्यामराम जैन,
अध्यक्ष—
वर्द्धमान साहित्य-मंदिर
अमीनुद्दौला-पार्क
लखनऊ।

मुद्रक—
वर्द्धमान प्रेस,
अमीनुद्दौला पार्क
लखनऊ।

भाई देवेन्द्रप्रताप तलवानी

और

बहिन प्रेमलता तलवानी

को



—'सरोज भइया'

प्रकाशकीय

'रोली' हमारे प्रकाशन का प्रथम प्रयास है। 'रोली' और उसके कवि के विषय मे मेरे द्वारा कुछ कहना व्यर्थ है जब कि पाठक स्वय उससे भली भॉति परिचित है।

मैं स्वय कवि की सरल एव सजीव राष्ट्रीय रचनाओं से बहुत ही अधिक प्रभावित हूँ। मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि उनके प्रकाशन से ही मैं अपनी सस्था का श्रीगणेश करूँ। मुझे हर्ष है कि मेरी अभिलाषा पूर्ण सिद्ध हुई।

पुस्तक आपके सामने है। सरोज' जी की अनुपस्थितियों के कारण इसके प्रकाशन में ही विलम्ब नहीं हुआ वरन स्थान-स्थान पर भारी अशुद्धियाँ भी रह गई हैं—उनके लिये मच में मैं लज्जा-वनत हूँ।

मुझे पूर्णाशा है कि साहित्य ससार अपने तरुण-कवि की कृतियों का समादर कर मुझे प्रोत्साहन देगा।

भवदीय—
दयाराम जैन
अध्यक्ष—
वर्द्धमान साहित्य-मदिर,
अमीनुद्दौला पार्क लखनऊ।

'रोली' का रंग

रोली' की अधिकांश रचनायें उस नाज़ुक परिस्थिति का प्रतिनिधित्व करती हैं जब संसार के कोने कोने में भीषण संग्राम दुर्दमनीय दानवता का क्रूर-अट्टहास, स्वार्थपरता का ताडव नर्तन और मानवता के महानाश का चक्कर चल रहा है। इसी युग विशेष में भारत की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ भी अपना विशेष महत्व रखती हैं। अगस्त १६४२ के दिल-दहलाने वाले दृश्य नेताओं की गिरफ्तारियाँ नागरिक स्वत्वों का अपहरण, भीषण दुर्दमन बंगाल का अकाल, जापानी आक्रमण और राजनीतिक गत्यवरोध सबके सब एक बारगी गुलाम हिंदुस्तान की भुकी रीढ़ पर आ कूदे। ऐसी स्थिति में कोई भी संवेदनशील कलाकार उक्त दुर्घटनाओं के चक्कर में पड़ चुप नहीं रह सकता था। लेखकों ने कलम पकड़ी, चित्रकारों ने तूलिका उठाई, विचारकों ने दिमाग लड़ाये और शूरमाओं ने शक्ति सहेजी। सबके सब उसी ओर चल पड़े —

"जिस ओर तड़पते हैं लाखों आँखों में भर भरकर पानी,
जिस ओर वेदना, बढ करके स्वयमपि बन जाती है वाणी।"

कोई भी सचेतन कलाकार ऐसी नाज़ुक स्थिति में कोरे अध्यात्म अथवा निर्जीव भावना की रंगीनियों में ही उलझा नहीं रह सकता था। सबने अपना-अपना कर्तव्य निभाया। यह ऐसी स्थिति थी जिसमें कलाकार का हृदय स्वयं ही प्रगति की ओर प्रेरित हो उठा और अनायास ही उसके मुख से जनता की वाणी मुखरित हो उठी। इस संकटापन्न स्थिति में आदर्श और प्रगति के बीच खाँई खोदने वाले ही अकर्मण्य बने रहे। उन्हीं के प्रतिक्रियावादी प्रयास में वह प्रकाश नहीं आ सका जिसके सहारे युग का जर्जर मानव दो-चार

हम मुक्ति की ओर चल सके। यह युग त्याग, बलिदान और आत्म संयम का युग है। इस युग के व्यक्ति के विकास में ही समष्टि की अनुभूति अन्तर्हित है। कलाकार को भी अपने कोमल स्वर सितार पर भैरव राग गाना ही पड़ा। फूलों का दामन छोड़ शूलों का तीखापन आजमाने के लिये उसे विवश होना पड़ा। इस युग के कवि का कौशल तीव्र संवेदनशीलता के आधार पर प्रणीत कला द्वारा मर्दित जनता को प्राण, प्रेरणा और बल प्रदान करने में ही है। आज की 'कला की उपयोगिता (देखिये पृष्ठ चार और पाँच) आज की मरी हुई सद्वृत्तियों विकासोन्मुखी भावनाओं और—मुक्ति-मार्गानुगामिनी आकांक्षाओं को उभारने में, उकसाने में और उद्दीपित करने में ही है न कि नीरो-नरेश की भाँति रोम नगर की विध्वंस-लीला के साथ वैयक्तिक-तुष्टि के चिकारे की ताल देने में।

इस युग के साहित्य की सजीवता सरलता, तीखापन और संवेदनशीलता ही उसकी प्रमुखतायें हैं। आज का कलाकार स्वत्व संग्राम की घमसान के बीच रथ रोके हुये खड़े अकर्मण्य अर्जुन को त्याग बलिदान और वीरता की ओर प्रेरित करनेवाला कृष्ण बनकर ही जगती का कल्याण कर सकता है। भक्ति भावनायें, और रीति कालीन रंगीनियाँ एवं बाल की खाल निकालने की बाजीगरी आज की यथार्थ जर्जरता के सामने आत्म प्रवंचना मात्र है। उसे पुरातन पाषाण प्रतिमाओं के स्थान पर पुरातत्व विभाग के संग्रहालय में रक्षित पर हमें प्रगति की ओर नवीनता और निर्माण की ओर बढ़ना पड़ेगा। आज के कलाकार को अपनी महानता लेकर समाज की उस निचली तह में उतरना पड़ेगा जहाँ भयावह अंधकार और अचेतनता है। पर वहीं जमकर जड़ बन जाना ही उसका कर्तव्य नहीं वरन् अपनी ऊर्ध्वगामी प्रेरणाओं के साथ निम्न-स्तरीय भावनाओं को सहेजे हुये फिर ऊपर उभर आना ही उसकी कुशलता और कर्तव्य है। केरल प्रांत के महा-कवि वाजातोल की यह युक्ति-युक्त दलील हमारा मार्ग स्पष्ट कर देती है—

"आज की स्थिति में कम से कम कुछ दिनों के लिये, कला को

उसकी अत्युच्च और उदात्त अट्टालिका से उतार कर नीचे जन समूह में लाना होगा। जब जनसमूह काफी उन्नत हो जायेगा तब कला का भी तल फिर से ऊँचा हो जावेगा। पानी भरने के लिये गागर को कुऐ में उतरना होता है। जल भरकर फिर वह ऊपर उठ आती है। 'कला' को भी यही करना पड़ेगा। जीवन-तत्व के लिये उसे जनता के मध्य जाना पड़ेगा तभी वह सार्थक होगी।"

परन्तु साथ ही प्रत्येक राष्ट्र-वादी प्रगति-पंथी को एक खतरे से अवश्य सचेष्ट रहना चाहिये, वह है उच्छृंखलता और नासमझी का। प्राय आज के भारतीय (विशेषकर हिन्दी) प्रगति क्षेत्र में ऐसे भी कला पक्षी अवतरित हो रहे हैं जिनकी निगाह में रूस का लाल झंडा हँसिया-हथौड़ा और तमाम स्थूल आधारों का नीरस और ज्यामितिक (Geometrical) चित्रण ही सच्चा प्रगति वाद है। साहित्य में कोई भी 'वाद' विवाद और विडंबना पर आधारित होकर नहीं टिक सकता। संवेदन शीलता ईमानदारी और अनुभूति प्रधानता 'कला' के मुख्य अंग हैं। अस्तु जब तक कला प्रणयन में इन तीनों का समावेश नहीं होगा तब तक कोई भी 'कला-वस्तु' प्राणवान् और वास्तविक नहीं हो सकती। हृदय की अभिव्यक्ति ही साहित्य का आधार है दिमागी उलझन नहीं। प्रगतिशीलता का पथ प्रदर्शक जब तक स्वयं अपने हृदय को इतना विस्तीर्ण नहीं कर लेगा जिसमें विश्व के अणु-अणु का संचार और प्रगति सन्निहित हो सके न तो स्वयं आगे बढ़ सकता है और न किसी को प्रेरणा ही प्रदान कर सकता है। 'तुलसी' की भाँति उसके 'स्वान्त सुखाय' में ही "बहुजन हिताय" अन्तर्हित होना चाहिये। 'सीय-राम मय सब जग जानी', की विस्तीर्ण भावना ही 'सीय-राम' के व्यक्तित्व की इकाई को विस्तीर्ण और व्यापक बनाकर उसे कोटि-कोटि हृदयों पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

इसी प्रकार 'मजूर-किसानों' के गीत गाने वाले कवियों को अपनी संवेदनशीलता को व्यापक और विकार-शून्य करना पड़ेगा तब उनके गान जनता के गान और उनकी अनुभूति जनता की अनुभूति हो

सकेगी। और तभी उनकी प्रवृत्तियाँ प्रगति की ओर प्रेरित करने का बल प्राप्त कर सकेंगी।

कलम पकड़ते ही प्रगति के गीत गानेवाले कलाकार भी विरले ही होते हैं। अपने सुख दुख को सबसे पहले व्यक्तित करने का प्रयास मानव प्रकृति की मूल प्रवृत्ति है। अस्तु—मैं यह नहीं कहता कि कला प्रणयन'—अपनी स्वाभाविकता के साथ दगा देकर प्रगति के गान गाये। वरन् उसे धीरे धीरे विकास की ओर, स्वाभाविक-गति पर बढ़ना चाहिये। पर प्रत्येक काल में एक अवस्था ऐसी भी आती है जब राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक हित के लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना पड़ता है। आज भारत में भी वही स्थिति है। आज हम किसी 'कलाकार' के सीमित स्वार्थों को जलते हुये जनसमूह के बीच लाने का अवसर नहीं देना चाहते। अपने ही सुख दुख में मस्त रहनेवालों को आज सामूहिक-विकास के युग में जनता के बीच उतरने का असफल प्रयास भी न करना चाहिये। यदि बलात् हमें उनको प्रगति पथी बनाने का अधिकार नहीं तो उन्हें भी हमारे चेतना के पथ में, जागरण के पर्व में मदिरा उँडेलने का अधिकार नहीं। साहित्य समाज का दर्पण है—उसमें हम किसी एक व्यक्ति के बेढंगे चेहरे का प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते।

समाज और राष्ट्र पर आज दरबारी सामन्तों और श्रीमन्तों की प्रवृत्तियाँ शासन नहीं कर रही हैं वरन जनता की सामूहिक चेष्टायें ही उसे प्रेरणा प्रदान कर रही है। अस्तु यह निश्चय है कि आज के कलाकार की कला' दरबारी-कवियों की कारीगरी' से भिन्न और व्यापक होगी।

बिहारी की नायिका से आज की नायिका भिन्न होगी (देखिये पृष्ठ २३ २४ ३७, ३८ और ४४) क्योंकि बिहारी के युग से आज का युग भी भिन्न है।

आज के हिन्दी कलाकार को प्रगतिशीलता अपनाकर अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के समस्त अंगों से विद्रोह करना भी आवश्यक नहीं

और यह भी जरूरी नहीं कि वह रूस की 'डोन' नदी के जल को उठाकर गंगा के मैदानों में प्रवाहित करने का हास्यास्पद प्रयास करे अथवा जेठ-अषाढ़ की गर्मी से तप्त भारत को यूरोपीय बर्फ पिंडों से ढँकने की असफल चेष्टा करें। प्रत्येक कलाकार प्रत्येक युग में अपनी स्वाभाविकता, परम्परा और संस्कृति को सहेजे हुये ही प्रगति की ओर बढ़ा है। अस्तु, आज के भारतीय प्रगति-पथी को प्रत्येक अवस्था में यह कभी भी न भूलना चाहिये कि उसके पैर हिन्दुस्थान की धरती पर ही रुके हुये हैं, जिसके अन्न जल पर ही उसका अस्तित्व आधारित है। कलाकार किसी 'वाद' के बंधन में नहीं बँध सकता—ठीक है। किन्तु व्यक्ति को समाज की आकस्मिक दुर्घटनाओं को हर काल और हर अवस्था में प्रधानता देना ही पड़ेगा। सम्पूर्ण संसार जब ज्वालामुखी के मुख पर चढ़ा झुलस रहा हो तो सरस प्राकृतिक दृश्यों की झाँकी भक्ति और प्रेम की मल-मली चादरों और छायावाद की धुँधली रेखाओं की ओर 'कला' का रुझान होना अस्वाभाविक है। कलाकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता, बहुत कुछ उसके चारों ओर के वातावरण पर ही निर्भर होती है। हर काल में जनता की सामूहिक-भावनाओं ने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है—जिसमें सबके सब कलाकार बह गये हैं। वीर गाथा काल के प्राय: सब कवियों ने वीरता और बलिदान के गान गाये हैं। भक्ति-युग के अधिकांश कवियों ने भक्ति और रीति-काल के कारीगरों ने श्रृङ्गार के गीत रचे हैं। तो आज ही कलाकार के 'वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य' का बेसुरा नारा क्यों अलापा जा रहा है? आज वह कलाकार कलाकार नहीं जिसका हृदय सामूहिक संवेदना से तड़प न उठे जो अपने युग की अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व आज न करे। कोठरी में बैठकर न तो साहित्य की बारीकियों की विवेचना ही की जा सकती है और न चेतना की चाँदनी में कीचड़ ही उछाला जा सकता है। सबके समक्ष अब एक ही लक्ष्य है और वह है बंदी-मानव की मुक्ति का सामूहिक प्रयत्न।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि आज का प्रगतिशील और सामयिक-साहित्य स्थाई नहीं रह सकेगा—क्यों? यदि उसमें मानवीय

भावनाओं की अभिव्यक्ति है तो यह तब तक अमर रहेगा जब तक मानवीय सृष्टि कायम है। परिस्थितियों के परिवर्तन में उस काल में प्रणीत साहित्य की उपयोगिता भले ही कम पड़ जाये किन्तु उसकी मर्मस्पर्शिता नहीं घट सकती। आज अयोध्या का यह वैभव नहीं रहा जो रामराज्य के समय था फिर भी रामायण में उसका चित्रण आज दूर के लिये टूटी चारपाई पर लुढ़के हुये रंक को भी अपनी ओर आकर्षित कर ही लेता है। साहित्य यदि संवेदनशीलता के आधार पर निर्मित है तो वह चाहे जितना सरल और सुलभ हो—अमर और अक्षुण्ण रहेगा ही।

साहित्य का सच्चा स्थायित्व उसे पुरातत्व-संग्रहालयों में सुरक्षित रखने में नहीं वरन् जन मन व कण्ठों द्वारा गुञ्जरित होने में ही है।

तुलसी की रामायण का स्थायित्व अपनी सरलता और जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति लेकर वेदों की गूढ़ता और दुरूहता से अधिक परिपक्व और सजीव है।

अस्तु सामयिक साहित्य की अमरता उसके प्रणयन की ईमानदारी और सुलभता पर ही अधिक आधारित है।

रोली की रचनायें आज के युग की मान्यताओं और व्यवस्थाओं पर ही आधारित हैं। अस्तु, वे आज ही के लिये हैं। कुछ देर चमकती है रोली शीर्षक गीत में मैंने पहले ही इसे स्पष्ट कर दिया है। जान-बूझकर उनकी रचनायें सरलता और सजीवता के पृष्ठ-भूमि पर हुई हैं और जिस प्रकार प्रबल तूफान के झोंके क्षणिक होते हुये भी प्राकृतिक उपकरणों पर कभी-कभी स्थाई चोट कर जाते हैं उसी प्रकार रोली के छंद आज के मानव के मर्दित मन को उकसाकर उसे एक स्थाई व्यवस्था के निर्माण की ओर प्रेरित करेंगे—ऐसी मेरी धारणा है और यही उद्देश्य भी।

अपने इसी लक्ष्य की सफलता पर मुझे सन्तोष और हर्ष होगा। स्थाई और उच्च साहित्य सृजन का सामर्थ्य मुझमें है या नहीं इसे साबित करने के लिये मैं आगे आनेवाली परिस्थितियों की ही ओर देखूँगा आलोचकों की ओर नहीं।

किसी वाद विवाद की दुम के बधन में बँध न तो मैं स्वयं एकांगी बन पाया हूँ और न ऐसा चाहता ही हूँ। अवसर पर मैंने आध्यात्म भी अपनाया है और प्रेम के भी गीत गाये हैं। पर, जब जन समूह का प्रश्न उठा है मैंने व्यक्ति को हमेशा दबाने की चेष्टा की है। व्यक्ति के दबाने का अर्थ केवल उसके विकारों के दबाने से ही है सद्वृत्तियों से नहीं और इसी बुनियाद पर आज की गति देखते हुये मैं व्यक्ति को समूह के साथ हिल मिलकर प्रगति गीत गाने का आमंत्रण भी देता हूँ।

'रोली' की अधिकांश रचनायें विशुद्ध राष्ट्रीय, सामयिक, सरल स्वाभाविक और सजीव हैं ऐसा कहने का साहस मुझे हो रहा है। क्योंकि जिस आधार शिला पर वे प्रतिष्ठित हैं वह ईमानदारी और संवेदनशीलता पर ही स्थित है। नव-युगीय व्यवस्थाओं के व्यक्तीकरण में मैंने कुछ नवीन उपमाओं का भी सहारा लिया है यथा —

है शांत सलिल की शक्ति चोट लहरों की बल बंधन में है,
मानव के उद्भव का तूफान अंतर्हित पीडित मन में है।
चिनगारी की चेतनता को ईंधन है झंझा की झकोर,
बिजली की प्रबल विकलता का बल है वारिद की घटाघोर।
आँसू की पतली धारा को जब जगने नहीं मार्ग छोड़ा
तब उसने स्वयं राह ढूँढी पानी ने भी पत्थर तोड़ा।"

तुम मधु मक्खी सा फूलों का रस ले-लेकर के धरते हो
पत्तों में छिपकर झुंड झुंड मधु-कुंड व्यर्थ ही भरते हो।
जब एक धुयें के झोंके में वन पीत-पत्र झड़ जाते हो,
अपना संचित रस-सार बधिक के हाथों में धर जाते हो।

इसी प्रकार कहीं कहीं परम्परागत प्रयोगों को भी अपने आशय और अभिव्यक्ति के अनुसार परिवर्तित करने में मैंने स्वाधीनता बरती है। यथा —दीपक में स्वयं को जला देने के लिये ही अभी तक पतिंगे की प्रवृत्ति प्रसिद्ध रही है किन्तु मैंने इस तरह भी उसका प्रयोग किया है —

"भले रहे जो रहे देखने सदा दूर से खेल
जले पतिंगे जो पावक को गये बुझाने पास।"

इस प्रकार हर स्थान पर मैंने अपने आशय को स्पष्ट और मनोरम बनाने के लिये अपनी स्वतन्त्र सत्ता का उपयोग किया। और वह प्रयोग सफल रहा है इसका भी विश्वास मुझे है।

मुझे ठीक से स्मरण है कि सुकवि श्रीसोहनलाल द्विवेदी ने एक दिन कुछ मित्रों के बीच उत्साह के साथ कहा था कि —

'सराज तुम्हें मैं बधाई का पत्र डालने वाला था 'पानी की पतली धारा' वाला प्रयोग मुझे बहुत ही प्रिय लगा—वास्तव में तुम मेरे मन के अनुकूल सजीव और सरल साहित्य कार हो।"

साहित्य की सजीवता और उपयोगिता के प्रयोग समाज की अनुभूतियों पर ही किये जा सकते हैं—और उन्हें मैंने जनता के बीच किये भी हैं। जिसमे मुझे प्रति बार सफलता मिली है।

मुझे अपनी कला' पर अपनी ईमानदारी के ही आधार पर भरोसा है इसलिये आज उसे जनता के समक्ष पुस्तक रूप में रखने का साहस हुआ—फिर भी मैं अपने आलोचकों का समस्त स्वस्थ आलोचनाओं का स्वागत करूँगा।

'भूमिका' किसी अन्य से लिखाने का प्रश्न मेरे सम्मुख भी उपस्थित हुआ था और हिन्दी साहित्य के प्राय सभी सुकवियों का स्नेह भी मुझे प्राप्त है फिर भी मेरी आत्मा इस विषय में किसी अन्य को कष्ट देने के लिये सहमत न हो सकी। क्योंकि अपने दृष्टिकोण को स्वय उपस्थित न कर दूसरे द्वारा उसकी व्याख्या कराना कुछ अशोभन सा लगा।

पुस्तक, पाठकों के सामने है—इसके गुण दोषों के वे ही सच्चे समीक्षक भी होंगे और उन्हीं की आलोचनाओं का प्रभाव भी मुझ पर पड़ेगा। अस्तु, अपने ही हाथों अपनी कृति उनके सम्मुख स्वय रखने में मुझे सतोष और आनन्द प्राप्त होगा।

रोला' के मुख पृष्ठ के चित्र का भाव प्रदान करने के लिये मैं अपने समीपतम स्नेही कहानी लेखक श्रीबैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा प्रूफ संशोधन के लिये श्रीदत्तजी एव अपने कवि जीवन के प्रमुख आधार स्तम्भ पंडित प्रवर रूपनारायणजी पांडेय, सत्कवि श्रीबालकृष्ण राव,

एवं विद्वद्वर भगवतशरण उपाध्याय को धन्यवाद दे भाई मोहनलाल खरे भाभी चंद्रकला खरे, आशालता त्रिपाठी व कु० फ्लोरेन्स सैमुएल का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी ममता और सहानुभूति ने मेरे जीवन को पुष्ट और परिष्कृत बनाया।

अन्त में अपने पाठकों से यह निवेदन कर मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ कि 'रोली' मेरा प्रथम प्रयास है, अन्तिम नहीं।

गङ्गा दशहरा स० २००१ वि०
हिन्दी-लेखक-संघ
२४ ए० माडल हाउसेज
लखनऊ।

शिवशंकर 'सरोज'

(संस्कृत अनुवाद)

रोचते क्षणं रोचना-रुचिः

क्षणमिह शूरस्य शुभे शिरसि—
श्रियमाश्रयति श्रीदीपशिखा
भूषाय भास्वरे घति वेदी—
पथमेषा वितरति दीप शिखा
रे गच्छत्संवत्सर वक्षसि होलिका ज्वलति प्रतिभात शुचि
रोचते क्षण रोचना रुचि ।

(२)

क्षणमिह गगने रे विलसन्ता—
रोचक - मेचक - जलधर माला,
लघु - लघु विन्दुपु धीर धोर—
सन्तुलित भाव झञ्झा जाला,
वैभवे वलित - वलि - वीरायां रे क्षणमात्र सञ्चरति रुचि ।
रोचते क्षण रोचना रुचि ।

ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश'
काशी ।

शैली



कुछ देर चमकती है [illegible]

विषय-सूची

कुछ भ्रामक अशुद्धियाँ

पृष्ठ		अशुद्ध	शुद्ध
१	छठीं पंक्ति	अगस्त १६४३ ई०	अगस्त १६४? ई०
३६	चौथी "	अधम	भस्म
"	११ वीं "	घर	घट
४०	प्रथम	छत	क्षत
४३	नवीं	अमृत का प्याला	अमृत का प्याला
	१३ वीं	पुलकर	खुलकर
४४	दूसरी "	धूल के फूल	छूल के फूल
"	१? वीं "	तो हृदय भरे	जो, हृदय मरे
	१६ वीं "	पत्ते तुम भरती जातीं	पत्ते तुम मलती जातीं
४५	दूसरी "	भय में भस्माचल से	भय के भस्माचल से

मैं कविताओं के अन्त में पत्र-पत्रिकाओं का नाम देना स्वयं कभी नहीं चाहता था—पर मेरी बहिन (जिसके पास मेरी सारी रचनायें थीं) के आग्रह और मेरी अनुपस्थिति से ऐसा हो गया—इसी कारण इस विषय में भी कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं—कुछ कविताएँ प्रकाशित किसी पत्र में हुई हैं पर नाम किसी का छप गया है—यद्यपि अशुद्धियाँ दो ही एक हैं फिर भी उनके लिये मुझे दुःख है।

—'सरोज'

गीत—

मुखरित करो मन के गीत।

मौन बन कर ही न जाये, बन्धु! जीवन बीत।

स्तब्ध-रजनी में व्यथायें—
साधनायें, सो न जायें?
आज अविरल आँसुओं में—
वेदनायें धो न जायें?

धूल में मिल भूल जायें पथ न निज भय भीत।

बन्ध स्वर के तोड दो अब,
छन्द बिखरे जोड दो अब!
कल्पनाओं की तरी पर—
भावनायें छोड दो अब,

हार हो इस पार की, उस-पार की या जीत।

'प्रताप'

'कला' की कसौटी—

आज न जिसने कलम गड़ाई पशु-वत् अत्याचारों में।
उस कायर कवि की गिनती है नवयुग के हत्यारों में॥

जिसके मन के भाव, घाव मानवता के भर नहीं सके।
जिस भावुक के अश्रु आज, परवशता मे भर नहीं सके॥
आज दनुजता के दशन में, जिसे न युद्ध पीडा पहुँची।
उस पशु को हम गिनें भला क्यों साहित्यिक कृति-कारों में?

मचले मन की आज़ादी में आज न जिसके हाथ कसे।
भीतर खाकर चोट सदा ही हँसा किया जो बाहर से॥
जो न जगा खूनी छींटों से, बलि वेदी पर जा सोया—
उस मानव को गिनें भला क्यों अपने पहरे दारों में?

आग लगी दुनिया में, जिसने की लपटों की अवहेला।
उसे न सुख मिल कभी सकेगा आज न जिसने दुख मेला॥
विपति विषमता की वेदी में, पग सोये जो, टूट चुके—
जो पतझड में टिका न तरु, वह फूला नहीं बहारों मे॥

अपनी लेकर 'कला' कमल सा जो कीचड़ मे फूल बना।
मानवता के महायज्ञ में जो जन जलती तूल बना॥
जीवित रह करके जगती के चुभते काँटे चुन डाले—
और धन्य है वही, मरा जो जनता की जय कारों में॥

आज- वही कवि, जिसने पैदा करदी बलि की बेचैनी।
आज वही रवि चीर गई तम को जिसकी किरणें पैनी॥
कलाकार है वही जला जो, जलती जगती के कारण—
'रोम्या-रोला' सा शहीद बन, फासिस्ती-फुफकारों में॥

आज न जिसने क़लम गडाई पशुवत् अत्याचारों में।
उस कायर कवि की गिनती है, नवयुग के हत्यारों में॥

'हंस'

कवि, गाँवों की ओर चलो—

बिखरे चौगानों में जिनके अगुर-
श्रममय गुण—गान भरे।
पिंडों में परम चेतना के,
अस्पष्ट, अमर अरमान भरे।

जिनकी पथराई आँखों में,
युग-जागति के अभिमान भरे।
जिनकी दुर्गति में प्रगति पली
अवनति में विभव विहान भरे।

जिसकी दुनिया है बसी हुई,
सुनसान प्रकृति के कोने में।
जिनका सुख-श्रम खो जाता है,
दौलत के गहरे दोने में।

बालायें जिनकी नीम-तेल से,
अपने केश भिगोती हैं।
मिट्टी की चार चूड़ियों को,
कन्यायें जिनकी रोती हैं।

जिनको साड़ी, जंगलझाड़ी,
तन्जेब नैनसुख सपने हैं।
चिथड़ों की जर्जर जरी, बसन
जिनको अति दुर्लभ अपने हैं।

उन अबलाओं की आहों में
फिर उमड़ अशेष अतीत चलो।
उन गाँवों में, उन गोंठों में
कवि अपने गाते गीत चलो।

अखबार, रेडियो, यत्र-तत्र या
जिनको कुछ भी ज्ञान नहीं।
युग-जागृति क्या ? जिनको पिछले
परवारों की पहचान नहीं।

रमई मतई का व्याह-भोज,
रँगई रहीम का स्वाग सफर,
जिनकी चर्चा के विषय और,
दुनिया की उनको कौन खबर ?

कलुआ, बड़सिंघा, बुद्धि-हीन ही
बैल बने जिनके सहचर,
जिनको अनिष्ट ही इष्टदेव,
औ' जमींदार ही जगदीश्वर,

उन उभरे मिट्टी के ढेलों से
जोड़ जगत की प्रीति चलो।
उन गाँवों में, उन गोंठों में
कवि अपने गाते गीत चलो।

हो गई सुबह नन्ही मुखिया
कुटिया के टट्टर खोल चली,
अम्मा ! बासी दे, भूख लगी
रोकर यह मुह से बोल चली।

भूखा बंगाल—

भारत का सिंह द्वार, सूरज पहले जिस ओर निकलता है,
वह आज भूख की ज्वाला में 'बंगाल' चिता-सा जलता है,
साथी ! चव्वालिस बार जहाँ, जापानी भीषण बम बरसे,
हो गये जहाँ से टकराकर, कुंठित फासिस्तों के फरसे।

जिसने पत्थर-से सीने पर रोकी भीषणतम बमबारी,
वह आज भूख से तड़प रहा, मानव खा रही महामारी,
कितनी महिलाएँ मुट्ठी भर चावल पर बेंच रहीं जीवन,
कितनी कन्याएँ मुट्ठी भर चावल पर बेंच रहीं यौवन !

कितने बच्चे बिलबिला रहे हैं नाबदान के कीड़ों-से,
कितने घर उजड़े आज लग रहे चमगीदड़ के नीड़ों-से,
कितनों के घर में दंड पेलते चूहे, सूख रहीं आँतें !
सड़कों पर मुर्दा बनी लुढ़कतीं सड़ी-गली मानव पाँतें।

दो-दो रुपयों पर पिता बेच देता है अपने बेटों को,
दो-दो दानों को रे मानव अब पीट रहे हैं पेटों को,
दो-दो चावल के दानों पर नीलाम हो रही मानवता,
दो-दो टुकड़ों पर कुत्तों सी है कूद रही भूखी जनता,

चटगाँव हमारी रक्षा का दृढ़ सिंह द्वार अविजित नाका
रख रहा हमारे सम्मुख है मिटती मानवता का खाका,
कोरी सेनाएँ ही कैसे फासिस्तों से लोहा लेंगी,
जब जनता की संगठित शक्तियाँ अपने कंधे धर देंगी ?

दुनिया के दुखियों के साथी, दुनिया के दलितों के भुज-बल,
चेतो, अब आज सँभल जाओ! तुम पर ही आशाएँ केवल,
नवजात राष्ट्र की चेतना में घुसे न फासिस्ती भाला,
वह चले न जनता के शोणित का आज प्रबलतम परनाला!

रे! आज सूखकर काठ बन रही हैं लड़नेवाली बाहें
हुंकार जहाँ से कढ़ते थे वे अधर छोड़ते हैं आहें।
नौकरशाही तू चेत निपट कोरी बंदूकें क्या होंगी,
जब जनता की शक्तियाँ अरे फ़ाकों से पस्त, फ़ना होंगी?

तू आज जेल में सड़ा रही भारत की रजनी के तारे
औ, इधर भूख से व्याकुल हो जाग्रत् जनता हिम्मत हारे
बम बरसेंगे! हम सह लेंगे, आमरण भले अनशन होगा?
फासिस्त फ़ना होंगे पर अब जनताका अनुशासन होगा।

भारत के प्यारे रणवीरो भर दो इन भूखों की झोली,
जो आये दिन खा रहे तुम्हारे लिये शत्रुओं की गोली।
मुर्दा लोथों की पाँती पर सुख की शय्या धिक्कार तुझे,
सूखी आँतों से बँधी हुई धन की थैली धिक्कार तुझे।

धिक् है फ्यरों सी तोंदों की ऐ बदबूदार डकार तुझे,
सब खान-पानसम्मान शान-जलपान भोज धिक्कार तुझे।

'लोकयुद्ध'

गीत—

बन्धु! विफलता में भी बल है।

निर अभाव की धौंधी आँखों में भी भरा हुआ तो जल है।

काँटों में भी 'आह' छिपी है,
सागर में भी आह छिपी है।

चपल लहरों पर चलकर भी शीतल शशि प्रतिबिम्ब अचल है।

नील-गगन के निर्मल तारे
यों ही अपने नयन पसारे?

नहीं, कहीं तो अन्धकार में छिपी ज्योति उनकी उज्ज्वल है।

गया न मरा सो पार की चाही
वस्तु मिलेगी निश्चय राही!

चले चलो पथ पकड़, कंटकों में सफलता की रचना प्रबल है।

'प्रता

जीवन-संगीत—

जहाँ प्राण पाथेय वहाँ पथ पंथी कैसे हारे ?
आँधी के झोंकों में नभ के कब बुझ गये सितारे ?

क्षण को ही ये विषम बवंडर छाएँ, फिर छँट जाएँ,
हुईं मलिन कब इनसे रवि की चिर ज्योतित रेखाएँ ?

जहाँ अमर अस्तित्व जलन हो, वहाँ बर्फ कब जमती ?
जलती बाती, अलस अँधेरे में हिलती ही रहती।

साथ-साथ चलता है साथी बनकर सुख का दुख भी,
दबा हुआ दुर्भाग्य कभी हो जाता है सम्मुख भी।

पर इससे जागृति के योगी कब निराश होते हैं;
जागरूक जीवन के क्षण कब संध्या में सोते हैं ?

धूल भरी आँखों के आगे आज तनिक जो तम है,
'भ्रम' वह भय-संकुल प्राणों का, नहीं सृष्टि का क्रम है।

'प्रताप'



कारा की कोठरियों में दीप जले—

आज महल सूने, कारा की कोठरियों मे दीप जले।
चलो भला ही हुआ, अमा में तम से और समीप जले।

लिये चेतना की चिनगारी प्राण प्रताड़ित दमक उठे,
आज सुनहली ज्योति चुराकर लौह-सींकचे चमक उठे,

हाथ बँधाकर व्यथित मनुजता खोल रही मन की कारा,
सजग, अमर आलोक शिखा मे भंगुर भय के कीट चले।

नहीं किसे यह ज्ञात चमकती है छण को ही दीवाली,
पर, बुझकर ही कहो अमरता इस जग मे किसने पा ली?

तो, फिर तम से ग्रसित धूम्र बन उसमे ही क्यों मिल जाऊँ?
क्यों न चमक कर ही बिजली-सी वय की घाती बीत चले।

आज महल सूने, कारा की कोठरियों मे दीप जले।
चलो, भला हो हुआ अमा में, तम में और समीप जले।

'प्रताप'



गीत—

बन्धु ! जीवन मुक्त होगा
यह न समझो विवशता में—
वारि ही है बल नहीं है,
यह न समझो विषमता में—
हार ही है 'हल' नहीं है,

जाग जायेगा सत्य जो त्याग जौहर-युक्त होगा।

हो गया जो तीर खाली—
तो उसे मत तोड डालो,
मिल सका जिसको न जल—
वह पात्र ही मत फोड़ डालो,

आज असफल रह गया जो, कल वही उपयुक्त होगा।

'प्रताप'



गीत—

युग के प्रतिनिधि बोलो!

युग-युग की कृतियों के स्वामी,
तुम श्रुति संस्कृतियों के स्वामी!
आज स्वयं बन रहे भला क्यों
अघ-धाम मग के अनुगामी?

अपने उज्ज्वल अन्तस्तल से अजिर तिमिर-तम धोलो!

आज तुम्हारा और समय पर
पलाकार! भीषण भीषणतर
स्वर्ण-राशियां को ठुकरा दो—
लोहे की लघु कलम उठाकर।

कवि-कोविद, अब श्वेत-पत्र पर कपट-कालिमा खोलो!

'प्रवा

चालिस करोड़—

हैं आज देश की इज्जत पर जीनेवाले चालिस करोड़।
जीनेवाले चालिस करोड, मरनेवाले चालिस करोड़।

समझो ये आफत के परकाले हैं,
मे अपने हथियार सम्हाले हैं,
तो आने दो, ये पद-दलित नाग,
जो आग पिपासा… बिल मे अपने अपने फन डाले हैं।

उनको भी अवगत हो जाएगा कितने ये जहरीले हैं—
जो मचल मचलकर इठलाते हैं कोटि-कोटि की कमर तोड।

इनको समझो मत फूल, भूल यह, ये ज्वलन्त अंगारे हैं,
है लपट बुझ गई, पर अब भी जलते सारे के सारे हैं,
इनके मन में है आग छिपी, तन में बूवत है, ताकत है,
अवसर पर, दोनों ओर चलेंगे ये दम भरे दुधारे हैं।

चमकीली, पीली औ' नीली इनकी आँखें क्यों घूर रहीं?
ये 'नूर' नहीं हैं शोले हैं, छूते ही देंगे मन मरोड।

ये ककड़ पत्थर मे अँटके झरने है राह न पाते हैं,
पर अँटक, अँटक सर पटर, पटक फिर भी बढते ही जाते हैं,
अँजलि भर भर तुम पी डालोगे इनको, यह नामुमकिन है,
तूफानी लहरों को समेट पीने वाले मर जाते हैं।

इनका प्रवाह तुम देखोगे, मिलने तो दो कुछ ढाल इन्हें,
ये स्वयं भर उठेंगे भर भर टीले कँकरीले तोड-फोड़।

गीत—

बुझ न जाये दीप मेरा।

दीप, जिसमें तेल डाला साधना का बुझ न जाये,
दीप, जिससे खेल डाला, शलभ बन कर, बुझ न जाये,
छा न जाये डबडबाई आँख के आगे अँधेरा।
तू बुझा सकता न झंझा वात निज गति से हिला कर
मैं बचाती ही रहूँगी आग, अंचल से छिपा कर,
ले रहे हैं आज, आकुल प्राण! पावक में बसेरा।
दीप, रुक जाना न पथ खो, साथ में मैं भी चलूँगी,
दीप, झुक जाना न श्लथ हो, साथ में मैं भी जलूँगी,
यामिनी में जल, बुझेंगे साथ ही बन कर सवेरा।

प्रताप

गीत—

बहन ! देश दुख दहन करो है !
बुझती दीप शिखा उकसा दो,
चल पलकों से जल न झरो है !
पुरुष-जाति हम जड़ पत्थर हैं,
इससे सह लेते ठोकर हैं।
पर, तुम कोमल-सहज-हृदय मे मत
शत शत 'क्षत' सहन करो है !
जन-जन का मन मधुर हरण कर,
चलो ! चलो !! चेतना-चरण धर।
चरण-चरण पर, मरण वरण कर–
जीवन मे जागरण भरो है !
जगह-जगह पर धधक धधक कर,
जगें, जगें, जड़ युग के जौहर।
आभा का आभरण पहन तुम !–
जल-जल कर तम-गहन हरो है !

'प्रताप'

रक्षा-बंधन—

आज बँधी है नहीं हमारी हथकड़ियों में बाहें,
यहाँ बहिन ये शक्ति सूत्र के धागे हमको क्या हैं?

जिन हाथों पर पड़ी करोड़ों परवशता की बेंतें,
वे कैसे अब आज सजाएँ कच्चे धागों से बेंतें।

जिन बाहों में बँधी विवशता की बहु भीषण तीरें,
रख न सकतीं उन्हें 'सलूनो' की लघु लाल लकीरें।

अतः, बाँधनी हो 'राखी' ही तो पहले आ जाओ—
चेतनता की, (तार-तार में) तुम बिजली दौड़ाओ।

जिसे स्पर्श कर रुक न सकें ये दुबली-पतली बाहें,
तड़प बज्रवत् धड़क उठें वे, सुन कर करुण कराहें।

भारत माता की जंजीरें टूक टूक कर डालें,
आद्या शक्ति समान तुम्हें हम पूजित कर सुख पालें।

प्रताप'

प्रोत्साहन—

बन्धु ! बढ़ते जा रहे हो !

राह चलते पड़ गया यदि कुटिल काँटों पर पदग है
'अब न आगे बढ़ मरेंगे' यह करुण उद्गार भूल है,
चरण पड़ चिनगारियों पर और भी चैतन्य होते,
अस्तु, पीड़ा से प्रगति का पाठ पढ़ते जा रहे हो।

बन्धु ! बढ़ते जा रहे हो।

पैर में काँटे चुभे पर राह में ही रुक न जाना,
देख करके वधिक के कर खड्ग खुद ही झुक न जाना,
ध्यान पग फिसले नहीं, संकेत है दृढ़ साधना का—
बन्धु गिर कर भी शिखर पर, समुद्र चढ़ते जा रहे हो।

बन्धु ! चढ़ते जा रहे हो ?

'प्रताप'

वसंत

गिर गये पत्र, खुल गये शूल—
आई फिर पतझड़ की बयार; अवशेष रहेगी किन्तु मूल।

हो गये मुक्त खग नीड़-हीन,
तरु-पृत-वृन्द पल्लव विहीन,
असमय मे हँसते बन्धु ! देख विगलित पाटल-दल को बबूल।

पर, पतझड़ ही होगा न अन्त,
तदनन्तर आयेगा वसन्त,
फिर ढँक जायेंगे दुखद शूल फिर खिल जायेंगे सुखद फूल।

'प्रताप'

शोणित पर सिंहासन न टिका—

मैं देख रहा हूँ युग-युग से शोणित पर सिंहासन न टिका,
मानव की मज्जा पर सुख की सज्जा करके शासन न टिका।

आँसू की पतली धारा को दुर्मन न बलकर बाँध सका,
पीड़ित प्राणों के धारा को कब करतल पर जग साध सका?

पाहन की पर्तें ढँक न सकी ज्वालामुखीय हुँकारों को,
सागर न बुझा पाया बड़वानल के अन्तर अंगारों को।

झुक सके न अंकुर आँधी से, भंगुर भय से तप रुक न सके,
बलिदानों पर बल-वैभव—युत सुरपुर का इन्द्रासन न टिका।

चिनगारी की चेतावनी को ईंधन है झंझा की झकोर,
बिजली की प्रबल विकलता का बल है वारिद की घटा घोर।

है शान्त सलिल की शक्ति चोट, लहरों का बल मथन में है,
मानव के उद्भव का उफान अन्तर्हित पीड़ित मन में है।

युग की जकड़न से रुद्ध हुआ कब कवि जीवन का क्रुद्ध गान?
कर गया पार जन-जन मन को अधरों पर आवाहन न टिका।

मन-मन की ममता को मरोड़ जड़ता, जागृति से दूर हुई,
जन-जन की समता को बटोर साम्राज्य-व्यवस्था चूर हुई।

जो मधु माखी सा मचल-मचल फूलों-फूलों को छल जाते,
वे मोम-महल में मधु लेकर गति की गर्मी में गल जाते।

आपद्हरण जगत में मरण और शोषण जन-रण का आमंत्रण,
कर द्रुपद-सुता का वस्त्रहरण दल बल पर दुःशासन न टिका।

'विशाल भारत'

मानव मन की लाली देखो—

अशांत मन के अंधियारे में मानव मन की आशा देखो!
बूँदों के लाली के आगे जब पानी जल की धारा हो;
नूपुर की झिलमिल ममता को अब टूट चला सितारा हो।
मानव के गुम्फित द्वारों पर जब हाय प्रकृति का प्यारा हो,
आँसू की हलकी लहरों को सागर का मिला सहारा हो।
जब ज्योति आँख की पुतली में पर्दे का चीर समा जाये—
तब तुम ऊपर से गहराई में मत रजनी काली देखो।
हर ओर चिताओं पर चलते चरणों की तुम तेजी देखो,
मानव के आगे मानवता के भर पर मुँह रखी देखो।
जड़-युग के जकड़े हाथों पर तुम जलते अंगारे देखो,
कायर मन को, तलवार पर अब अपना हिम्मत हार चुको।
ओ! महानाश के मतवालों आँखों वालो अन्धे न बनो—
अब आज हलाहल के अधरों पर मदिरा की प्याली देखो।
गतिमती मनुजता के पग की भुज भुजों झटककर दूर करो,
जो बिगड़ी दुनिया के थल पर है बनी पटककर चूर करो।
पीले पत्तों की परछाँहीं में कबरों सा सोना छोड़ो,
अभिनव-युग के पन्नग रत्न से मन का कोना-कोना जोड़ो।
निर्मोह माँगता प्राण न अब तुम उसे व्यथा में फेंक मरो,
मर मरकर जीनेवाला में जीवन की हरियाली देखो।

'ज्योत्स्ना'

आज हलाहल ही लूँगा—

मैं बनकर शंकर, प्रलयंकर लहरों का हलचल पी लूँगा।
तुम मुझे न मधु का दान करो मैं आज हलाहल ही लूँगा।

वह जहर कि जिसमें लहर ले रही नागिनि बनकर निर्ममता,
वह कहर कि जिसमें ठहर न सकती पलभर पीर भरी ममता,

जो आज जवानों के नस-नस को तहस-नहस करता जाता,
जो बँधे बाजुओं को मरोड़कर तोड़ तोड़ धरता जाता

जो फटे चीथड़ों में चिपटी माँओं की आहों में पलता,
पी करके जिसको घूँट घूँट अब सिसक रही है सज्जनता,

बन करके विषम व्यवस्था जो हो रहा व्याप्त व्याकुल जगमें,
जो समा रहा है साँस साँस में रोम-रोम में, रग-रग में

उससे न डरो, उसको न धरो भय के भंगुर लघु प्राणों पर,
तुम उसे चढ़ा दो चेतनता की चुभती हुई कृपाणों पर

तुम सुधा बिन्दु के चातक बनकर चीख चीख मर जाओगे,
खोकर करुणा में कायरता पर प्राप्ति न कुछ कर पाओगे

मुझको दो इस जग की ज्वाला मैं काल कूट पी जाऊँगा—
मरना होगा मर जाऊँगा जीना होगा तो जी लूँगा।

तुम मधुमक्खी सा फूलों का रस ले-ले करके धरते हो,
पत्तों में छिपकर कुञ्ज कुञ्ज, मधु-कुण्ड व्यर्थ ही भरते हो

जब एक धुएँ के झोंके में बन पीत पत्र झड़ जाते हो,
अपना संचित रससार बधिक के हाथों पर धर जाते हो

तुम प्रलय काल में शुभ संचय का मोह लिये डर-डर जाते
मैं जहर पिये जाता रहता तुम मधु पीकर मर मर जाते

तुम बूँदें चाट जिया करते मैं लहरें पीनेवाला हूँ,
तुम पलकर मरनेवाले हो मैं जलकर जीनेवाला हूँ।

तुम रोच-रोच रोया करते मैं सन्त भैरवी गाता हूँ,
तुम बनी बिगाड़ दिया करते मैं बिगड़ा सदा बनाता हूँ

मद-वाली जवानी के कंधों पर चढ़कर जो हुंकार रही,
पहले लेकर वह प्रलय भार फिर शांति-समुन्नति भी लूँगा।

वीर

हम अपना रंग उछाल चले—

तुम छिपी रहीं पर्दे में पर हम अपना रग उछाल चले।

यह रग कि जिसकी बूँदों मे मौजें लेती तुरनानी है,
जिसके पडने से लाल लाल हो उठती घुमी जवानी है।

जिसकी सूरत को देख दुश्मनों की बढती हैरानी है,
जिसकी सीरत पहचान पिघल पत्थर हो जाता पानी है।

जिसकी ताक़त से दुनिया के दुखिया सुख सम्पत्ति पाते हैं,
जिसका बल पाकर धनवानों के साथ साथ कगाल चले।

यह रग हमारा बरसेगा उन पर जो आज झुलसते हैं,
जलती जगती की ज्वाला मे पानी को पडे तरसते हैं।

जिनके पीले चेहरों पर की झुर्रियॉ सिमट रह जाती हैं,
जिनकी दुखिया ऑखें हरदम सूनी ऑसू बरसाती हैं।

सब हिम्मत पस्त जवानों के मन मन मे धधका कर होली,
जन बल का बिगुल बजा करके तलवारों पर दे ताल चले।

हम उधर रहे जिस ओर देश के दीवानों की चलती थी,
हर ओर शहीदों की, घर घर में धधक चितायें जलती थी।

तुम उधर रहीं जिस ओर तितलियाँ फूलों पर थीं मचल रहीं,
मधुरस से भीगी पंखुरियों पर बार बार थीं उछल रहीं।

फिर एक नदी के दो साहिल कैसे आपस मे मिल पाते?
इस ओर लहू की धार बहे, उस ओर अबीर गुलाल चले।

जब पायल की रुन् झुन् पर तुम थीं ठुमक ठुमक कर नाच रहीं,
तब मौत हमारी इधर जिंदगी के पन्ने थी बाँच रही।

जब तुम सितार की स्वर लहरी पर मादक तराने गाती थीं,
तब इधर दिलेरों की दुनिया में रणभेरी गाती थी।

> फीकी चितवन की चाल चपर जब तुम आँखों की
> जब इधर मौत की आँखों में हम अपनी आँखें

मिलन की दोनों चाह हैं आओ हम तुम मिल लें रानी,
हम बादल बन कर गरजें तुम बरसो बन कर पानी।
जलती जगती में जल भर दो हम पैरों की जंजीर बनो,
हम हिम्मत—चार के हाथ बनो तुम सान धरी शमशीर बनो।

> ताना फिर डालें साथ चलें दुख दर्द का बादल चाहे
> जो चमक-चमक कर बिजली सी चुभ जानेवाली चाल च

कृपा

ीति—

विहँसते अभिशाप बन हूँ विलखते वरदान मेरे।

❀ ❀ ❀ ❀

जब प्रलय को पार करके रश्मि सी रचना चली है,
सृष्टि के संस्थापकों की बेकली ही तब भली है।
अश्रु के भंडार में, अंगार ही अस्तित्व अपना,
जब चिता का चीर करके मुक्ति की निकली गली है।
जलन में ही जब हृदय की सिमट शीतलता समाई।
शलभ की शुचि साधना सी, मधुर तब बलिदान मेरे।

❀ ❀ ❀ ❀

कौन जाने कब गगन में मगन तारे टूट जायें,
और उनको मृत्तिका के रूप मानव लूट लायें।
यह विवर्तन और परिवर्तन ! न तब आश्चर्य कुछ यदि—
गरल में छिपकर बचे जीवन अमिय घट फूट जायें,
बंधु ! घटना-चक्र पर अधिकार कब किसका रहा है ?
चाहता जग कब कि शशि को 'राहु'-सा शैतान घेरे ?

❀ ❀ ❀ ❀

किंतु इतना तो पता सबको कि स्थिर रहता न जग है,
अंध-युग के बंध से बंध भी हृदय उससे विलग है।
एक हो सके अमावस पूर्णिमा के दिन न घुल मिल,
जब धरा के चक्र का यह आदि से ही वक्र मग है।
तब भला क्यों क्षणिक कष्टों से कुचल डालूँ अटल मन,
जब कि यह अवगत, सफलता के अचल अनुमान मेरे।

'आज'

गीत—

मत छुओ सजनि, छवि से क्षत-क्षण।
भर कभी न सकते भाव-भरे कवि के जीवन के बहते व्रण।

नयनों में लेकर चार बूँद,
मेरी आँखें क्यों रहीं मूँद?
तुम हटो, देख लूँ मैं भी तो अपनी तृष्णाओं का तर्पण।

कवि के अभाव के अन्धकार
में कर न सके रवि शशि विहार
फिर प्रिये, चमक सकते कैसे मोहक, मरुथल के सिकता-कण।

जर्जर जीवन का सूनापन
भर जायेगा छू स्नेह-सघन?
क्षण भर ही को, फिर बूँदें बन बह जायेगा सुख का सावन।

मेरा क्रन्दन सुन बार-बार
कैसे दोगी बाँहें पसार,
मानव न कभी भर सकता है ममता से, फूटा मानव-घन।

'माधुरी'

अब न भीम-अर्जुन आयेंगे—

अब न भीम अर्जुन आयेंगे।

अब न लौट कर जीर्ण, पुरातन-युग
मानव ! मन बहलायेंगे।

अब अपना साहस, अपना बल
ही होगा, भय पथ का सबल !

अपनी ही बलि से माता का
मुक्त बनेगा स्वर्णिम अञ्चल।

अपने कटु अनुभव ही
अपना शुभ इतिहास बना जायगे।

पीछे मुड़ कर क्या पाओगे ?
करतल मल-मल पछताओगे।

चमकोगे, फिर एक बार यदि
कूद आज आगे आओगे।

कल के किले आज के पग पर,
थम कर पुन सँभल जायेंगे।

आज हड्डिया मे विद्युत् भर,
मास-पेशियों को सुगठित कर !

तंतु नतु नो तोड घना लो
प्रबल प्रत्यचा, कर हों शर-खर।

कर्म-क्षेत्र मे कूद चलो तुम
विजय - केतु फिर फहरायेंगे॥

'आर्य मित्र'

तुलसी-स्मृति—

भौतिक भव से उठी प्रबल थी जड़ता की जब जड़ ज्वाला,
मानवता को पड़ी मिली थी तभी तरल तुलसी-माला।

शुष्क, अप्रिय अध्यात्म-जगत में बही सरसता की धारा,
पुलकायित हो उठे जीव जड़, खुली कल्पना की कारा।

तुलसी! तेरे तरु-पत्रों में अनुपम रस संचार मिला,
मिला विरागी को विराग भव सांसारिक को प्यार मिला।

तेरे ही 'स्वान्तःसुखाय' में जगती को कल्याण मिला,
शान्ति मिली, साहित्य मिला, मानस का अन्त स्नान मिला।

मिला राम का नाम पूत, सीता का उज्ज्वल त्याग मिला,
लक्ष्मण का बंधुत्व, उर्मिला का नारीत्व विराग मिला।

मिला शूर शस्त्र, क्रूर को कोमलता का ज्ञान मिला,
मिला हिन्द को हृदय और हिन्दी को उन्नत मान मिला।

मिली 'भ्रान्ति' को शान्ति, 'क्रान्ति' को मिला दहकता अंगारा,
हिमथल को रवि रश्मि तप्त मरुथल को मिली धवल धारा।

संवत् सोलह सौ अस्सी को प्राण लिये पर प्राण मिला,
अस्सी गंग को अनायास ही एक अमर निर्वाण मिला।

'श्रावण' को सन्तोष सप्तमी शुक्ला को सम्मान मिला,
किन्तु हमारे उत्सुक नयनों को आँसू आह्वान मिला।

आज राम का नाम और रामायण की पतवार धरी,
किन्तु अहो तुलसी तेरे बिन जग-नौका मँझधार पड़ी।

रामचरित मानस में क्या अब सचमुच जीवित राम नहीं ?
या कि जगत है राम पिपासित, उसे राम से काम नहीं ?

ओ हुलसी के हृदय सागर के नागर, फिर आ जाओ,
एक बार यह प्रश्न जगत में फिर से आ सुलझा जाओ।

आओ, तुलसी मरा आज मानवता तुमको बोल रही,
हिन्दी तेरे आराधन को अगम अधर अब आन रही।

'माधुरी'



गीत—

पंक में पंकज खिलो तुम !

एक सिहरन-सूत्र में शत साधनाओं को सिलो तुम !

शून्य में हिम-श्वास बन करके गले तो क्या गले तुम ?
प्रखर जीवन की दुपहरी में जले तो क्या जले तुम ?

प्राण में पीड़ा पिरोकर, आँसुओं में पल, पिघलते—
'ज्योति' ही हो तो निविडतम को चमत्कृत कर हिलो तुम !

उदधि के उभार में उमडी अमित सित शुक्तिया में,
'स्वाति' के बन बुन्द चमके, जगत परिचित युक्तियो में,

सूखते सर में सड़ी क्षुत्क्षाम विनत वराटिका में—
(मन्जु मुक्ता बन सको तो) क्या न प्राणों में खिलो तुम।

'माधुरी'

———

पंछी की पुकार—

अब तक उड़ूँ, अपार गगन में ?

कभी कभी तो ले लेने दो मुझको क्षणिक बसेरा तृण में !

कैसे भीषणतम झकायें ?
लघुतम पखों में भर जायें ?
कैसे चीर निविड नीरवता—
विकल प्राण विह्वल बह जायें ?

कैसे भरूँ उदधि आकुलतम शीतल पर क्षण के जल कण में !

डाली डाली आज लचीली,
कली कली लगती चटकीली,
राग-हीन नयनों को भी अब
निचली दुनिया रम्य रँगीली।

नील निलय छबि-कण नन छितरा गृह-गृह में, आँगन आँगन म।

जिसने तन में पंख लगाये,
ऊपर उड़ने को फैलाये,
अरे! उसी ने दम लेने को
नीचे भी तो पग लटकाये।

इनको भी टिकने दो पल भर लघुतरु शाखा पर मधु वन में !

'ऊषा'

वन्दी विहग से—

अब न अपना बल ढीले!
फड़फड़ा दे पंख पंछी पींजरे के पाश ढीले!

देख युग गिरि पाषाणों से
आज प्रगति प्रपात फूटा।
प्रथम प्रात प्रहार से, नव—
निबिड़ तम का गात टूटा।

अब मलिन का मद भाल
लाल सिन्धु का अंगार पंछी!
विपत पर पवि पुंज भी अब—
हो रहे गतिमान गीले!

अब न दिन हैं आँसुओं के
औ' न रोने का समय है।
मुक्ति मग के पग पदाधार
प्राण का भी अब न भय है।

स्रोत हैं पर आज झंझावात में
निश्चिन्त हो कर।
उड़ सकेगा तू गगन को
गड़ पड़ेंगे पाश पीछे।

'दीपक'

—— ——

शैलालोक

तारे—

ये नील गगन के तारे
सूनी आँखों को भाते न सूने में प्यारे-प्यारे।

ये मेरे मन के मधुर गीत
अथवा नभनिर्मित करुण गीत।

लिख ले अपने अन्तस्तल पर कवि ! अपनी करुण पुकारे !

ये मधुप दल सुकुमार ये,
अथवा कलिका सुकुमारी के –

हैं घूम रहे कुञ्चित पत्रों में मलने और निखार ?

रवीन्द्र किरण वाला शिशु—
में 'प्रेमलता' के पुष्प पुञ्ज

अथवा ये श्याम निगम शिला पर चन्दन सजल फुहार ?

धरि री कामना दृगव भर,
ले करके दीपक आग भर

अपने प्रिय की, प्रिय-मन्दिर में 'कविता' आरती उतार ?

जो भीगा पलकों के पाहुन—
को देख न सके, तिमिर के ...

आँखों को ऊपर चढ़ने के ये अटल अमर सहार।

'माधुरी'

ये फूल मेरे—

मधुर हैं ये फूल मेरे!

आज फूले हैं युगों के बाद विरह बबूल मेरे!

दो हृदय के पल्लवों पर पुष्प मेरे खिल रहे हैं,
देखता हूँ, ओट में कंटक निरंतर हिल रहे हैं।

पर अभी तो झूम लेने दो क्षणिक मृदु-गंध लेकर,
कल भले ही मत्त-उर में आ चुभें ये शूल मेरे।

मधुर चितवन को भले ही जग-नयन झँपना बतावे,
मृदुलता को मूर्छना कहे, मिलन को सपना बतावे।

किंतु प्रात चेतना की कल्पना कर, रात ही में—
नींद अपनी क्यों उचाटूँ झूमने दो फूल मेरे।

जानता मैं भी, न जीवन सत्य है, पर जी रहा हूँ,
जानता मैं भी, गरल में मृत्यु है पर पी रहा हूँ।

सो रहा हूँ आज युग के जागरण की दाह लेकर—
मत हटाओ, झूमने दो पलक पे झुक भूल मेरे।

'माधुरी'

शाश्वत संयोग—

जल रहा दीपक अकेला

बन्द पलकें पार करके, आ रहा अभिनव उजेला।

आज मम स्नेह-हीन वर्तित वह्नि की मुसकान गीली
हँस रही चिनगारियों में मिलन की घड़ियाँ रँगीली।
श्वास के शैथिल्य में सन्तोष का युग जी रहा है
पर रहे वारिद विरह के, आ रही विधु बिम्ब वेला।

हृदय के स्तर चूम जातीं, भावनाएँ चेतना ले,
उमड़ते उच्छ्वास अंतर की प्रबलतम प्रेरणा ले
गिर, सुप्त ममत्व में अमरत्व भरता जा रहा है,
चू रहा अमृत व्यथा से, दे रहा हिय हाव हेला।

पर युगों की यामिनी बस एक सिहरन में सवेरा,
मिल गई चिर कालिमा के नीड़ में लेकर बसेरा,
खिल उठीं कलियाँ हँसी मानसरोवर की लहरियाँ,
सजनि! सुधि के सीकचों से वेदना ने आज ठेला।

'माधुरी'

तुम और मैं—

तुम मलयानिल की अँगड़ाई, मैं झंझा की झंकार प्रिये!
तुम सजल नयन की सरस ऊर्मि, मैं फेनिल वारिधि ज्वार प्रिये!
तुम अमर ब्रह्म अनुभूति और मैं यह नश्वर संसार प्रिये!
तुम मधुर मिलन की शांति, विरह का मैं हूँ हाहाकार प्रिये!
विद्रुम का दीपाधार लिये जब विकल हृदय की दीपशिखा—
जलती रहती, तब आ जातीं तुम समुद प्रभाती रूप दिखा!
ऊषा-सी चुपके से रानी! तुम पहन स्वर्ण परिधान प्रिये!
कर देतीं शांत हृदय ज्वाला, हो जातीं अंतर्धान प्रिये!
सुख दुख की आँख मिचौली में, यह विरह-गरल, यह मिलन सुधा—
ढाला करतीं तुम अमिट प्रेम के रंगस्थल में बन द्विविधा।
शंकाओं का साम्राज्य लिये, करते हो श्रद्धा पर शासन,
होते विस्मृति विद्रोह अमित, पर अचल तुम्हारा सिंहासन।
तुम लता नवल, मैं मेरुदंड सूखे तरु का ध्वंसावशेष,
मिट्टी में मूल गड़ा अपनी लहराती रहतीं निर्निमेष।
माया की गुंजलिकाओं से तुम लिपट लिपट बढ़ती जातीं,
बंधन के पग धर धर नीचे गिरती जातीं—चढ़ती जातीं!
तुम मुकुलित पद्म कुसुम कलिका, मैं हूँ अलि का गुंजार प्रिये,
तुम हो हिय की अनुभूति मधुर मैं मुख की करुण पुकार प्रिये!
मेरा न लक्ष्य, मैं पक्ष हीन, इस पार न औ' उस पार प्रिये!
मैं भरी तरी का सरल पथिक, मुझको प्यारी मँझधार प्रिये!

'माधुरी'

शक्ति-साधना—

शक्ति, यहाँ सोई है

पारर पावक का आवाहन
लहक उठेंगे फिर अन्तर कण
चमक उठेंगे, चमत्कार से
गत हत प्रभ, जाग्रत् हो जन-मन

बुझे कोयले में चिनगी—
चेतनता की सोई है।
शक्ति यहाँ सोई है।

सुलग, शक्ति, शोणित झुरमुट में,
सुलग प्रलय के पावक पुट में
चमत्कार कर चमक उठ फिर,
रे! ज्वाला, यौवन-सम्पुट में,

जागे हिय की चिनगारी,
जो आँसू से धोई है,
जागे, शक्ति जहाँ सोई है।

अधि

बीसवीं सदी की सन्तानें

बीसवीं सदी की सन्तानें बलि-वेदी पर चढ़ने आई हैं।

* * * *

इस युग के योद्धा के मन को अंगारे भी शीतल लगते हैं
फूलों में प्रेम नहीं उसका अब काँटे ही कोमल लगते हैं।
इस युग के पण्डित को पोथी के पन्ने सब फीके लगते हैं,
चन्दन के पीछे चन्द्र बिन्दु पर शोणित के टीके लगते हैं।

इस युग का पिता प्राणदाता, माता दुर्गा भाई भीषण,
बीसवीं सदी की बहनें भी जीवन-पथ पर बढ़ने आई हैं।

इस युग का कलाकार बेरंग कागज़ को नहीं चूम सकता है,
अमृत का प्याला मदिरा के प्यालों पर नहीं झूम सकता है।
इस युग का कवि—जनता का कवि—खँडहर में नहीं घूम सकता है,
अपनी कविता से गोलों की गर्जन में मचा धूम सकता है।

इस युग का धन जनता का धन सब दलित देश की दौलत है,
बीसवीं सदी की हुंकारें खुलकर मुख से कढ़ने आई हैं।

* * * *

इस युग में मानव विष पीकर अमृत का दान किया करता है
बन्दी बन करके स्वयं सृष्टि को मुक्ति प्रदान किया करता है।
शोषण की क्षति से संघर्षण का सीधा सबक लिया करता है,
वैभव को करके बलि प्रदान मर मर कर युवक जिया करता है।
बेचैनी और परेशानी में बाँहें फन डोली होती हैं,
बीसवीं सदी की मौतें भी जीवन प्रतिमा गढ़ने आई हैं।

विप्लव

तो कुछ न कहूँ—

जलते मन की ममता न अनुकूल बनो तो कुछ न कहूँ।
लू-लपटों में सरस धूप न फूल बनो तो कुछ न कहूँ।

मुर्दों पर चढ़ मंदिर में रे ! मुस्काने की बान बुरी,
तूफानों के तुमुल नाद में लगती कोमल तान बुरी,
शोणित का सिंदूर सजा फिर शरमाने की शान बुरी,
ज्वाला पे प्रेमी पतंग को जुगुनू की पहचान बुरी।
साथ न चल सको पर जिस पर निश्चय हमको चलना है,
उस पथ में तुम शूल न बनकर धूल बनो तो कुछ न कहूँ।

पतझड़ की छाया-सी छूँछी छवि ले छलनामयी बनी,
तुम कजरा में खींच रही हो अपने मन से नयी बनी।
किंतु सड़ी लाशों में होता जीवन का संचार नहीं,
बाँध सके तो हृदय भरे मन में मिलता वह तार नहीं।
जिस पर धरकर चरण सचेतन युवक याद में कूद चले,
बहो न स्वयं, बहानेवाले कूल बनो तो कुछ न कहूँ।

आज भयंकर जड़ ज्वाला में जब जगती जलती जाती,
वारि न दे, घराटे पलकों पे पंखे तुम भरती जाती,
पाहन बन में अचल खड़ा तुम मोम बनी गलती जाती,
छाया-छल की छाँह दिखा करके जीवन छलती जाती
यह कैसा उन्माद कि जिसमें याद न जीवन भी रहता !
बार बार से एक बार की भूल बनो तो कुछ न कहूँ।

'कर्मयोगी'

मैं खून खँगाल पिया करता हूँ—

जलते तन से, बुझते मन का मैं दीपक बाल लिया करता हूँ।
भय में भस्माचल से जय की मैं ज्योति ज्वाल दिया करता हूँ।

❀ ❀ ❀ ❀

चेतनाहीन कवि के मन की भावना भाप हो जाती है,
पर, सबल सचेतन जन-मन की साधना साँप हो जाती है।
अमृत वाणी में विष लेकर मर्दित मन में फुफकार भरे—
पानी बरसाकर, पलकों में, मैं पावक पाल लिया करता हूँ।

मैं शांति सुधा का इच्छुक हूँ भिच्छुक हूँ भोले भावों का,
मैं जलते तन को चन्दन हूँ, मलहम हूँ दुखते घावों का।
पर, दिल को तिल से ताड़ बना संघर्षों में—सन्नाटों में,
मैं विषम व्यवस्था के बरतन में खून खँगाल पिया करता हूँ।

मैं कवि हूँ कोरे काग़ज़ से संतोष न मुझको मिल पाता
निर्झर-सा स्वर में गर्जन भर पाहन मन में भी मिल जाता।
दुर्बल मन को बल कर प्रदान आहत अबलों को साथ लिये
अवसर पर, कर से क़लम छोड़ कर के करवाल लिया करता हूँ।

मैं मरण लिये खेला करता जीवन से आँखमिचोली हूँ
मैं शांत हृदय का सागर हूँ आक्रांत हृदय की होली हूँ।
मैं गरल पानकर सरल गान मन वीणा पर छेड़ा करता,
मैं, कठिन क्रांति कर, विषम भ्रांति से शांति सँभाल लिया करता हूँ।

बेहतर है हँस कर मर जाना

जिसमें छिप कर शमन विचार रहा उस घर में आग लगा दूँगा।
इस हर लहराता दुनिया के सबकुछ मैं नष्ट जला दूँगा।

जुगनू कब तक जल सकता है जब चाँद सितारे ही न रहे
जब देश का माथा गिरता है, जिस देश के प्यारे ही न रहे,
जाते जाते जल रहे और हमारे टूटा हाथ रहे
मुर्दों को मिलें चार कन्धे जिन्दों के पद न साथ रहें
अन्याय और यह अत्याचार, मानवता के प्रति दुराचार,
मानव-मानव के मन मन में कण कण में आग लगा दूँगा।

जब ऊँची कुर्सी में सोने शेरों का आज शिकार हुआ,
जब, सरकारी-नौकरियों को लेकर भाग बेकार हुआ,
धधकती चिताओं पर भी यदि आँधी का अत्याचार हुआ
जब मरघट पर जलनेवाले लेता जीवन शिकार हुआ
भारत का मस्तक अचल हिमालय जिस पर चढ़ते आज
उस उन्नति के ऊँचे गिरि को जड़ से मैं आज गिरा दूँगा।

कुपल का सर है झुका, लुटेरों के हाथों में जूता है,
आँखों में खून भरा, फिर भी पलकों से पानी चूता है
इस मजबूरी से लाख गुना बेहतर है हँसकर मर जाना
इस सुर्खी मिट्टी में मिलकर जिंदा दफन करके जग जाना
लुट रही मनुजता टुकड़ों पर फिर भी जो मस्ती ले-लेकर
अब भी जैसे खर्राटे हैं उनको सुख सेज सुला दूँगा।

दुनिया यह ज़िंदा रहनेवाले इन्सानों की बस्ती है,
मुर्दों की मिट जाती मुट्ठी भर मिट्टी में मिल हस्ती है।
तुम मान भयंकर तूफ़ानों में कमर झुकाकर चलते हो,
तुम अपने साथ दगा करते अपना ही जीवन छलते हो।
जो कुरबानी से दूर रहे वह भी क्या हिन्दुस्तानी है?
मैं ऐसे हिन्दुस्तानी की पानी में शान मिला दूँगा।

मैं कवि हूँ, अपनी कलम लिये कुचला करता हूँ काँटों को,
मैं रवि हूँ, हँसता रहता हूँ लू-लपटों में सन्नाटों में।
मुझको न रुला कोई सकता, मुझको न बुझा कोई सकता,
मुझको न सुला कोई सकता, मुझको न झुका कोई सकता।
काँटों में लेकर फूल, और फूलों में काँटे लिये चला—
मैं आज वतन के गद्दारों के दिल में दर्द मिला दूँगा,
इस रूप रुपहली दुनिया को सचमुच मैं आज जला दूँगा।

'प्रताप'

इस कविता पर बाराबंकी ज़िले के प्रसिद्ध राष्ट्र-कर्मी श्रीमहन्त जगन्नाथबख्श सिंहजी कोटवा जगजीवनदास ने कवि को एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया था।

स्वाधीनता का गीत—

बोल उठी 'रावी' की लहर आगे बढ़, फ़रियादी!
आज ज्वाल-लपटों में लिपटी है तेरी आज़ादी।

❀ ❀ ❀ ❀

आज कदम हैं अंगारों पर तेरी ही ताक़त है,
आज धुएं में धूम मचाते चलना ही हिम्मत है।
लू-लपटों में बढ़ चल जो उनको ही मंज़िल है,
छुपी जवानी जो घूंघट में तो उस पर लानत है।
कहाँ छिपेंगे भेड़-बकरियाँ बन कर संघर्षों में?
घर घर में तो आज ज़माने ने है आग लगा दी।

❀ ❀ ❀ ❀

चटकीं कारा की कोठरियाँ तड़क उठीं दीवारें
हाथ बढ़ाकर माँग रही हैं आज़ादी मीनारें।
कंकड़ पत्थर चले प्रगति की ओर और हम मानव—
तूफ़ानी लहरों पर बढ़ें किसका आर निहारें?
लपटों की गर्मी में बन कर मोम, पिघलते कायर—
चले चरण जो आज मरण की ओर बने फ़ौलादी।

❀ ❀ ❀ ❀

यू० पी० ग्रस्त बिहार विकल है भूखे हैं बंगाली,
जगह-जगह पर बिजली बनकर छेड़ रही बेहाली।
आज न उठे कदम इतने पर भी तो वे बेदम हैं
सावन के अंधों को अब तक सूझ रही हरियाली।
उठो आज यह देश चलेगा कैसे मुक्ति-डगर पर?
भूखी है चालीस करोड़ की जन बसती आबादी।

❀ ❀ ❀ ❀

भद्ठायन

पड़े आज भी जो गद्दी पर, वे गद्दार वतन के
मौज उड़ाते जो अब भी हैं वे मक्कार वतन के।
भूखी जनता की ताकत पर तख्त नहीं टिक सकते,
सोच रहे अब भी क्या जाने मनसबदार वतन के।
अन्नपूर्णा माँ की बाँहों का जकड़े जंगलों में—
झुला रहे हैं और पास में वे अपनी बरबादी।

* * * *

भूख-आन कहती भूखो ! तुम सभी एक हो जाओ
हाँ करके आजाद गुलामी से निज प्राण बचाओ।
जिनके हाथों में कुंजी है आज समस्या हल की
आज जेल की दीवारों से उनको बाहर लाओ।
पूँजीशाही ने पिंजरे में बन्द विहग वन-चारी
उड़े अचानक आसमान पर, युग ने हवा चला दी।

* * * *

अपनी-अपनी तलवारों पर आज चढ़ा लो पानी
झाँक रहे हैं गृद्ध दृष्टि से लोलुप जड़ जापानी।
आजादी के प्यासो आओ, अपनी प्यास बुझा लो,
और जमाने की लहरों का रुक न सकेगा पानी।
चलो जवानो ! आज देश पर भीषण संकट आया
एक मिनट की देर तुम्हारी है युग की बरबादी।

'प्रकाश'

प्रेम रहा परिहास—

प्रेम बढ़ाने चले जगत में सब है मन की प्यास
किन्तु रहा दुनिया में मनुज का प्रेम सदा परिहास।
अपनी छाती फाड़ धरा ने आशा के अंकुर
पनपाये पौधे पौधों में मधुर खिलाये फूल।
डालों को पत्ते पत्तों को भेंट दिखाकर शूल,
दिया सुमन को गंध चढ़ाकर स्वयं शीश पर धूल।
किन्तु मिला जब सुमन उड़ा ले चला मधुप मकरंद,
सूखी पंखुड़ियाँ छूटीं व मर कर पड़ीं उदास।
क्योंकि जली बाती के बल पर बाती लेकर स्नेह
जलती रही जलानेवाले को अर्पित कर देह।
ज्वाला पीती रही स्नेह-रस सुख सुविधा के साथ,
लगी भ्रम में केवल कुछ दी भस्म दीप के हाथ।
भले रहे जो रह देखते सदा दूर से खेल
जले पतिंगे जो पावक को गये बुझाने पास।
पूजा किया किसी ने लेकर गया और वरदान,
आँसू देते रहे अधर के पलकों को मुस्कान।
बोया किसी और ने काटा और किसी ने पेड़
ऊन मिला ऊँचेवाले को रही ठिठुरती भेड़।
जले और ही उनके बल पर पले दूसरे लोग,
मोती देता रहा सीप को चातक का उपवास।

'सेवा

मधुर राग मेरा—

मैं पवन, मधुप का मधुर राग मेरा,
तुम सुमन, तुम्हारा मधुपराग मेरा।

※ ※ ※

अणु-अणु में भर भर कर समता ममता—
मैं अखिल जगत का आलिंगन करता
बन-बन मुरली में मैं गुञ्जन बनता,
बन साँस-सरस जीवन लेकर बहता,
तुम एक बूँद बन, जिसमें चू जाती—
वह तरल-तृप्ति का तल-तड़ाग मेरा।

तुम कली तुम्हारा मधु मुकुलित यौवन
मादक वैभव, अंतर उन्मन उन्मन
भरने को अणु-अणु में मरन्द सारा
क्या खोल दिया करतीं न बन्द कारा?
तब मलयानिल में, पाणि ग्रहण करता—
नव-कुसुम तुम्हारा चिर सुहाग मेरा।

जो पल भर के जीवन के अनुरागी,
जिनके न हृदय में चेतनता जागी,
उनको दे दो दो क्षण की जड़-घड़ियाँ,
उनको दे दो क्षणभंगुर पंखुड़ियाँ।
मैं सुरभि-सुधा का अमर उपासक हूँ—
उज्ज्वल अंतर का अरुण राग मेरा।

पाँखों के प्रेमी आँखों के अन्धे
क्या जाने जीवन मन-धन के धन्धे?

ताजे फूलों को करके वे बासी—
फिर फेंक दिया करते सत्यानाशी।

उनके हाथों में पकड़ा दो पत्ते—
फूलों के दल का विभव भाग मेरा।

मैं आँख मूँदकर ज्योति अनर देता,
मैं एक बूँद लेकर सागर देता,
मैं तुमसे रस ले मरुथल भर दूँगा,
सौरभ बन कर कण-कण को वर दूँगा,

जिसमें बँध बाँधा करता मैं तारे—
वह सरज तुम्हारा तरल-राग, मेरा।

'माधुरी'

कविता की कहानी—

सखि री ! मिली हृदय को वाणी ?

पुलक पुलक पल-पल चचल मन चला नयन से पानी

मुखरित कर मनुहार - मँजीरा
नाच गई मरुथल पर मीरा

गिरधर नागर शून्य गगन से—
उतरे प्रेम नदी के तीरा

भर अतृप्ति अँकवार—भावना ने की शुभ अगवानी।

विकल वेदना ने शर छोड़े
बिँधे पलक - पछी के जोड़े

बालमीकि मन मन, जन-जन के—
मन-मन ने भव - बधन तोड़े

बनी विकलता कविता कवि की
कविता, बनी कहानी।

'माधुरी'

कौन सुनेगा कविता तेरी?—

कौन सुनेगा रे अभिमानी?
तेरे सदय-हृदय की वाणी।
जिसके श्रुति-पुट सधे हुए हैं—
जिसके पलकों में है पानी?
सब बहरे बन चुके श्रवणकर रण मद के वैभव की भेरी।

किसने सुनी गगन-गम्भीरी—
गुञ्जरित मीरा की मंजीरी?
कब मानवता के खँडहर पर—
'कबिरा' की बज सकी नफीरी?
'सूर' सूर बन गये स्वयं ही पाकर जग की राह अँधेरी।

जहाँ प्रगति से प्रीति नहीं है,
वहाँ हृदय की जात नहीं है।
इस भौतिक युग में कोई भी—
भावुक मन का मीत नहीं है।
बँधे हुए मन प्राण, चेतना है सोने-चाँदी की चेरी।

'विशाल भारत'

छाया-छल—

रवि की किरणें—

आज मुँद गई है निशितम है,
उनमें पर न तीव्रता कम है,
यह तो छाया छल में भाई,
अलसाई आँखों का भ्रम है।

पापों की पौ फटते ही फिर चमक उठेंगी छवि की किरणें।

छवि की किरणें—

ढँक न सकेंगी गर्त-गर्त में
आज विवशता के विवर्त में
ज्योति, युगांतर कर चमकेगी
जन जन के अन्तर अमर्त्य में

काया की कारा में कब तक रह सकती हैं कवि की किरणें?

कवि की किरणें—

अन्तर्मुख हो करके अन्तर
माँज रही हैं आज निरन्तर
रोम-रोम से फूट पड़ेंगी
अनजाने अपने अवसर पर

साथ साथ सजकर निकलेंगी रवि की छवि की कवि की किरणें।

प्रताप'

यथार्थ—

तेरे गान, मधु बेताल!
आलाप तू न सकी अब विरल मराल।

आज अन्तर की व्यथायें
सो गईं, कैसे जगायें?

जब कि बाहर ही लगे हैं सुर-स्वर से काल

और भीतर परिभावना—
मन है निस्पन्द अकारव

पर समुद्र को दीख आता है अमृत ज्वार।

क्यों भला जलमग्न सर हो,
जब लहर में ही बहार हो

हो भले ही और नीचे मोतियों की प्यार।

'हंस'

प्रेम—

शत शत पवन के मुक्त द्वार !
हे ! अखिल असम्भव के सम्भव, तुम हे अमूर्त के मूर्तकार !
संशय की श्यामल - सुषमा पर
श्रद्धा के स्वर्णिम पग धर, धर
तुम बढ जाते विश्वास पकड़
हे प्रेम ! पूर्णता के पथ-पर
भावाकुल - अम्बुधि मे तिरते डुबकी ले, लेकर वार-बार।
जडता से टकराकर सम्भ्रम
जब मानव की मूर्छना प्रथम—
जागी, प्रभात के प्रतिभा का—
प्रस्फुरण, भरे मन मे अनुपम
तब पूर्व क्षितिज पर छवि छहरा करके तुम चमके प्रथम बार।
सरिता की लहरों में चपल
उतरे तुम रवि के रश्मि झलमल
सागर का अनमिल अलस अंक—
छू दिया ज्योति से अन्तस्तल
मौक्तिक आभा से आभासित हो उठा वीचियों का विहार।
हे ! आकुल - अधरों के चुम्बन
हे ! जड़ - आँखों के आँसू-कण—(कन)
तुम हे खुली सन्ध्या के शुभ—
सुकुमार सुरभि श्लथ आलिंगन
हे चिर-चेतन, हे चिरनूतन हे चिर मानवपन के दुलार !

जीवन यहाँ अकेला है—

जीवन यहाँ अकेला है।

आहों के अंधड़ में आकर
आराध्या के महल ढहा कर
चले गये कितने अनजाने—
हिय होली में आग लगाकर
नयनों की पिचकारी लेकर कौन साथ में खेला है ?

सुधि की श्यामल शून्य जटायें
जब मानस-तट पर लहरायें
और उन्हीं से उलझ, हृदय के—
उतरे आँखों में आ जायें
अपने ऊपर ही चू पड़ते वे, जग की अवहेला है।

स्नेह स्वयं ही सूनापन है,
चिर अतृप्ति ही आश्वासन है
मरु मरीचिका में मानव का—
तृष्णा से ही भरता मन है
जीवित स्वप्नों की समाधि पर ही तो जुटता मेला है।

'प्रकाश'

गीत—

दो हृदय भी मिल न पाते।

दीपकी दो द्युति शिखायें
चाहती हैं पास आयें,
झिलमिला देतीं उन्हें—
झकझोरकर बहती हवायें।

द्वार खुल जाते प्रतीक्षित पर पुजारी दिल न पाते।

मधुरतम अनुराग में हैं—
टपकते जल-विन्दु खारी
स्नेह, सामाजिक विषमता—
का, लिए अभिशाप भारी।

ताड़ भी छोटा किसी को और कोई तिल न पाते।

चाहता पल-पाँवड़ों पर—
चरण अनचीन्हें न आयें
नाच जातीं शून्य पा, पर
अर्थगत असमर्थतायें

सुमन सौरभ से सने हैं, पर विवश हैं खिल न पाते।

'भाज'

मैं वायुयान !—

मैं वायुयान ! मैं व्योममान !!
मैं मानव निर्मित यन्त्र एक,
मैं महामृत्यु का यन्त्र एक
भीषणतम शोणित तन्त्र एक—
दारुण मेरा शासन विधान।
मैं स्वयं एक बम गोला हूँ,
मैं स्वयं सुलगता शोला हूँ,
झंझानिल का बम भोला हूँ—
उच्छ्वास प्रलय की ऊर्ध्वमान।
निर्जीव निखिल नभ पर चढ़कर,
खाता चेतनता के चक्कर,
बम गोलों से लेता टक्कर—
मैं सैनिक नभ उड्डीयमान्।
जब मैं मँडराता पर खोल,
आतंकित हो उठता खगोल,
क्षिति क्षितिज-छन्द में प्रलय घोल—
गा उठते हैं भैरवी गान !
जब मैं अपना साहस समेट
वक्षस्थल में ले 'पायलेट"
झक, झूम एक देता चपेट—
जर्जर हो गिरते गिरि महान्।
मैं नभ पर कर ताण्डव नर्तन,
करने लगता जब झन, झन,
झर उठते नूपुर के कटि-कण
कर भस्म भुवन का विभव मान।

आत्म-विस्मृति—

मुझे ढूँढ दो, मैं खोया हूँ ।

मैं, तुमसे ही मिलने आया,
आकर तुममें स्वय समाया,
उच्छवासों से सुधि-समीर था—
उमड़ हृदय मे झोंका आया,

तरल-तरी पर पाल चढ़ा कर—
सपने मे आओ, सोया हूँ ।

मैं क्या हूँ ? यह एक कहानी,
स्वय मुझे लगती अनजानी
तुममें ही तो मैं अन्तर्हित—
बहा जा रहा घन कर पानी,

मैं धो रहा, तुम्हारे पद-तल—
और स्वय ही मैं धोया हूँ ।

'आर्यमि

———

बीसवीं सदी में बन्धु, प्रेम नहीं घृणा करो—

ऊँची चिमनी से चढ़ी
उष्ण धूम्र-धार सी,
तीन शूल से बिंधे
विवश विषैले काले नाग के—
आहत-अधर के आतुर अनुराग के—
स्फीत फुत्कार सी
तीव्र चीत्कार सी
आ रहा हृदय को चीर
तीव्र घृणा।
विष के प्रसार सी वीभत्स, विकराल
काल-व्याल सी कराल
वह्नि चिलप्पा की
कपालिके कृष्णा सी
घोर घृणा।
नारी नयनों से उतर प्रेमियों की भाँति
मानव कहे जाने वाले
पिशुओं की
दस्युओं की पाँति पाँति—
की है सदा पूर रही
घृणा।
घृणा, हृदय को आज—
खींचे लिये जा रही है
उस ओर
जहाँ शुद्ध-भावना पर
विष भर बिच्छू से

विहचार

भौतिक जगत के स्वार्थ
रंग आते बार बार।
बार बार छल जाते प्यारी पलकों पर
जहाँ नभ नभ की रसधार—
तन समेट लेते
दुर्निवार दुर्दम अधम असमानता के,
मानव वह मानव र राल बने दानवों के—
जीने दो।
खाली, तार वाली की सड़क सी नग्न
अभिशप्त
आहें भरती है
परिपाटी आज पश्चिम की।
जीवन को पीछे मुड़कर
देखने की बान भी है चली आ रही
अजार तरुणाई जहाँ।
जिस पर चल
आज विकल
झुलस झुलस बार बार
तरुणों के तीव्र-गति गामी तलवे अपार
दिल मिलाते एक बार।
और, फिर शान्त हो
चुपचाप क्लान्त हो
हार मान, सुन हो
वैभव के बंधन में बँध
युग के प्रति-गामी बन
घिसते चले आते हैं
पथ का भार।

रोटी के जूठे टुकड़ों से जहाँ
पकड़े जाते हैं कोटि कोटि क्रान्तिकारी कण्ठ।
भावना की भिक्षा वृत्ति ही बनी जहाँ 'कला'
आग बढ़ने की आन,
आकुल-प्राण की उड़ान—
जहाँ बनी श्रृंखला।
कोठरी में बन्द तरुण
खुले वायु महल में
जैसे मर जाता है
नाक साध लेते
नवयुग के प्रति द्रोही
और यत्न कर लेते
पशु बल से
वैभव और छल से
अपने घर में ही लगी आग को बुझाने में—
लगे जो क्रियाशील हाथ।
जीवन की ओर से
यौवन की ओर से
मोड़े मुख जाते जहाँ
कोड़े मार मार कर
प्रगति के पग - पग पर
उन्नति के डग डग पर
डाले जाते रोड़े
औ' बिखेर दिये जाते शूल।
शान्त सज्जनता को
मानव की ममता को
साँप सी सदा ही डँस जाता जहाँ पातक है।
ऐसी जगती में प्रेम!
प्रेम, तुम करोगे मधु!

पद्मधर

हाय जो हृदय स्नेह
देह छोड़कर जो [illegible]

कहीं भी न प्रेम था
सहानुभूति देते थे,
[illegible] खूब पानी लिए [illegible] आग।
आज अन्तर से
धुला यह अन्तर में

आग भड़ रही है घृणा।
घृणा! घृणा!! घृणा!!!
घृणा जगी देश के परिणाम आग
[illegible] दाव दिया था। अमर ज्योति यहाँ

पिघल कर प्यार में
दाह होता नाश कर स्वयं
किन्तु अन्तर

अनुराग से
शान्ति सम्मान से
तप से बलिदान से
शीतल हो
अविरल अमर राग छेड़ देता।
आग यहाँ—
बिजली के मध्य से बँधी सी ज्योति—
में है सौंदर्य अनुताप
जहाँ परिताप पाप वृत्ति को है तीव्र-दाह
जिसके स्पर्श मात्र से
तार तार अन्तर के
एक बार, चीत्कार करके
झंकार

दिगम्बर

फिर मृत्यु शांति स्वीकार—
करते मनुष्य को
शून्य हो
मौन ही जाते हैं मृत मन।

ठहरो—

मधुलोभी भँवरो न यहाँ कञ्ज कुञ्ज
किन्तु यहाँ कम्पी वेदना के गन्दे घूरे पर
सब सफेद-स्वार्थ के धतूरे ही खिले हुए
डोल रहे गन्दे मन, मल में मिले हुये
इनसे न प्रेम करो।
इनमें नहीं है रस
विष ही भरा है और।

इनसे न प्रेम करो
घृणा करो घृणा
घृणा करो अभी अनुगामिनी प्रवृत्तियों से
घृणा करो घोर ! घनघोर !! पाप-वृत्तियों से
घृणा करो शाप भरे लोचनों के नीर से
घृणा करो पाप भरी साँस की समीर से
मानव-कृत मानव की मृत्यु से घृणा करो
दानवों के दारुण दुष्कृत्य से घृणा करो
बीसवीं सदी में बन्धु !
प्रेम नहीं घृणा करो।

सुनते सभी हैं इन्हें
और सब समझते हैं,
भय से
अनय से
या कि, अहंकार से—
स्वाधिकार विकार से—
किन्तु यह बात नहीं
यह कि—
सच में ईमानदार आत्मा का ओज लिये
क्षोभ लिये दासता का विफल करते हैं गान
मुक्ति की दिशा की ओर जोर से बढ़े हैं गान
बीसवीं सदी के गान।
इनका न ओर छोर सरल सघन परिपुष्ट प्राण
भाषा भी न बाँध सकती है इन्हें छन्दों में
(वैभव की विवेचना की भावना के बंधों में)
ये तो मुक्त छन्द हैं
कढ़ेंगे
पुष्ट-पाहनों को—
जहाँ से भी तोड़-फोड़ पायेंगे
वहीं से आन।
पत्थरों को तोड़के
मरोड़न से बचना ना
और झाड़ियों को
झकझोर कर बढ़ेंगे गान
पूर्णता प्रगति की ओर
जोर से बढ़ेंगे गान
बीसवीं सदी के गान।

नारी—

नारी!
तुम नारी हो?
या कि—
ज्ञात कामना की भ्रान्ति-भरी क्यारी हो?
जिसमें विभव का—
भव का
पराभव और—
उद्भव का—
अभिनव जीवन का बल—
जल सा उभर आता
भर आता
भर जाती तुम भी तब
और फिर पढ़ती
तृष्णा से वितृष्णा का।
खाली हो
जलती हुई चाय की प्याली सी
तिरस्कृता
उपेक्षिता
धुंधली कराल-ज्वाली सी
किसी एक कोने में
आहें भरती हो तुम।
या—
फिर से भरने की चाह
लेकर हृदय में दाह
आह भर
टूट पड़ी मचली पतिंगे सी

इराक्षी

दीप शिखा पर अज्ञात
स्नेह सिक्त ज्योति पर।

निज निसर्ग दुर्निवार
तुम तोला तोलती हो कभी
और कभी तीरों में से
पर अपनाती हो
ठोकर लगाती और—
शप दोनों को कभी।

तुमको मिला न तृप्ति
औ न तृप्त कर सकीं
दूसरा को।
स्नेह के पट सी भर भरके रिक्त होती रहीं
घृणा और प्यार प्राप्त कर करके खोती रहीं
बार बार हार जीत हँस हँसकर रोती रहीं।
पूर्णता को रिक्त
और रिक्तता को तृप्ति - दान
देती रहीं जीवन भर—
जीवन भी यह ही तुम्हारा है
नारी!—
और यौवन भी यह ही
तुम्हारा काम सुन्दरी!

हमारे कुछ और प्रगतिशील प्रकाशन

मुक्त-छंद

श्री शिवसिंह 'सरोज' के समाप्त मुक्त-छंदों का आकर्षक समह। इसमें सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से प्रभावमयी भाषा में २० वीं सदी की प्रमुख मान्यताओं के कलात्मक चित्र हैं।

मौन-निमत्रण

प्रसिद्ध तरुण-कथाकार वैकुन्ठनाथ मेहरोत्रा की १५ कलापूर्ण कहानियों का समह।

सुन्दर-विचार

मानव की विविध-प्रवृत्तियों को प्रेरणा, बल और विवेक प्रदान करने वाले ससार के प्रसिद्ध महापुरुषों साहित्यिकों और शूरमाओं के वाक्यांशों का समह। समहकर्ता—श्रीहरिश्चन्द्र

अधूरी-साधना

विख्यात सिनेमा साहित्य कार अविनाश की ५ लम्बी मनोरंजक और मनोवैज्ञानिक कहानियों का अनुपम समह।

अमीरी की सीढ़ी

विकासोन्मुख युवकों को ससार की समृद्धि की ओर ले जानेवाले प्रयत्नों, प्रेरणाओं, विचारों और सकल्पों की अनुपम योजनाओं का का वृहद् विवेक भडार। ले० दयाराम जैन

रुन-झुन

आ० इ० रेडियो से ब्राडकास्ट 'सरोज' के ४० मधुर ममता-पूर्ण गीतों का समह। जिसमें एक एक गीत जनता के आग्रह पर ६ ६ बार ब्राडकास्ट हो चुके हैं।

बाल-गीतांजली

बाल-साहित्य की बेजोड़ पुस्तक जिसमें 'सरोज' की सजीव लेखनी के ४० गीति चित्र हैं।

शिशु-बोध

लेखक—बाल-साहित्य के मर्मज्ञ विशेष दयाराम जैन।

इसमें हाथ और बूढ़े के आकारों से ही सम्पूर्ण स्वर एवं व्यञ्जनों का लिखना सिखलाया गया है—यह पुस्तक की सर्वप्रथम विशेषता है। सर्वथा नये और सुलभ दृष्टिकोण से शिक्षा के प्रति और ज्ञान उत्पन्न करा देने वाली बेजोड़ पुस्तक।